महावीर का धर्म वितराग और हमारा दृष्टिराग

ले. अगरचंद नाहरा

जिन महापुरुषों ने राग पर विजय पायी अर्थात राग को नष्ट कर दिया। जैन धर्म में वे ही वास्तविक देव या परमात्मा हैं। इसलिए तीर्थंकरों का विशेषण वीतराग सार्थक है और जैन तीर्थंकरों को वितराग कहा जाता हैं। भगवान महावीर ने वीतरागता को ही साध्य बनाया और जब वे पूर्ण वीतराग बन गये तभी उनमें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और उसके बाद ही उन्होंने ३० वर्षों तक धर्म प्रचार किया।

आठों कर्मों में मोहनीय कर्म ही सबसे प्रबल माना गया है। जहाँ तक मोह रहता है। वहाँ तक सम्यक, ज्ञान, सम्यक चारित्र्य, शुद्ध और पूर्णरूपता प्राप्त नहीं होती। बाकी सभी कर्म आत्मा के एक एक गुण को अवतरित करते है। जब की मोहनीय कर्म सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य इन दो आत्मिक गुणों के अवरोधक है और मोहनीय कर्म के नष्ट हुए बिना जो भी ज्ञान हैं। वह अज्ञान और कुज्ञान हैं। और चारित्र्य भी कुचारित्र्य हैं। इसलिए मोक्षमार्ग का सबसे बड़ा बाधक मोहनीय कर्म ही हैं, क्योंकि सम्यक् दर्शन ज्ञान, चारित्र्य इन तीनों को मोक्ष मार्ग का साधन बताया गया हैं। मोह का प्रबल कारण राग ही हैं जो अनेक रुपों में प्रत्येक सांसारिक जीव में भरा पड़ा हैं। इच्छा से लेकर आसक्ति तक की सारी प्रक्रियाएँ राग के कारण ही उत्पन्न होती हैं। इसलिए कर्मबंध और संसार का मूल या बीज राग - द्वेष ही है। जितने - जितने अंश में राग - द्वेष हटेगा या कम होगा उतने - उतने अंश में आत्मा शुद्ध होगी। आत्मिक गुण प्रगट होंगे।

जैन धर्म में जीव या आत्मा का लक्षण धार्मिक विषयों को लेकर भी राग - द्वेष अत्यधिक बढ़ा हुआ हैं। वास्तव में तो जहाँ समभाव है, वही धर्म है। जहाँ राग-भाव है वहाँ धर्म ही नहीं। क्योंकि धर्म वितरागिता में है। समता में है। उप-सममें हम कल्पसूत्र में श्रमणत्व या श्रमण धर्म का सार "उपसम" भाव को ही बतलाया हैं। जहाँ उपसम हैं वहीं शांति हैं, क्षमा हैं, सरलता है, मृदुता है, संतोष है इसीलिए धर्म के दस लक्षण बतलाए गये हैं। जिन-जिन व्यक्तियों में जितने - जितने अंश में ही वह धार्मिक। इसके विपरित जहाँ जितना क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष विषयक काषाय आदि दोष हैं, उतने अंशो में वे अधर्मी हैं, 'पापी हैं, दोषी है, इस बात को प्रत्येक जैनी को गहराई से चिंतन करते हुए अपने हृदय में इसे आदर्श वाक्य के रूप में प्रतिष्ठित कर लेना चाहिए।

वैसे तो राग के असंख्य भेद है, पर जैन ग्रंथो में उसके तीन प्रमुख भेद बतलाये गये है। [१] काम-राग [२] स्नेह-राग [३] दृष्टि-राग। विषय - वासना के प्रति आकर्षण काम-राग हैं। पाँचो इन्द्रियों के २३ विषयों और विकारों का सामवेश काम-राग में होता हैं। कुटुम्ब, परिवार, स्त्री-पुरुष, माता-पिता, धन-धान्य आदि में जो विशेष लगाव होता हैं। वहीं स्नेह-राग हैं। यद्यपि ये दोनों राग बड़े बलवान हैं इन्हें जीतना बहुत ही कठिन हैं, फिर भी जैन मनीषियों ने "दृष्टि-राग छोड़ना और भी अधिक कठिन बताया हैं, क्योंकि वह सहज पकड़ में नहीं आता, बड़ा सूक्ष्म हैं, लुभावना भी है। इसीलिए उसके दोष, प्रायः ध्यान में नहीं आते। हमारी दृष्टि में हम जिसे अपना या अच्छा मान लेते हैं, उसमें हमारा इतना प्रबल अनुराग हो जाता हैं कि उससे भी अच्छे व्यक्ति के प्रति हमारा ऐसा सद्भाव नहीं होता। समान गुणी या विशेष गुणी की अपेक्षा दृष्टि - राग के कारण ही होती है। संप्रदाय दृष्टि - राग पर ही आधारित हैं। वास्तविक धर्म की प्राप्ति में सम्प्रदायिकता बहुत बड़ी बाधा हैं। एकाँत या आग्रह दृष्टि या वृति दृष्टि राग के कारण ही होती हैं। इसीलिए सम्यक् दृष्टि को सर्वाधिक महत्व दिया गया हैं। अनाग्रह दृष्टि, वृति और समान्वय भाव ही सम्यक् दृष्टि या अनेकांत दृष्टि हैं। जो वीतरागिता की ओर ले जाने वाली दृष्टि या वृति हैं, हम अनेकांत की चर्चा करते हुए जैन धर्म का महत्व -पूर्ण सिद्धांत बतलाकर अपने आपको गोरवान्वित अनुभव करते हैं, और कहते है किंतु अनेकांत को हमने सही में समझने का ही प्रयत्न नहीं किया तो जीवन व्यवहार में कैसे आ पायेगा वह? इसीलिए एक महापुरुष ने कहा है:-

दृष्टि राग नो पोष, तेह समक्ति गिणू।
स्यादवाद नी दृष्टि, न देख निज पणू॥

अर्थात हमने तो दृष्टि-राग को ही सम्यकत्व - सम्यक दर्शन मान लिया है और उसी दृष्टिराग को अधिकाधिक पोषण दिये जा रहे हैं।

जैन समाज में दृष्टि-राग कितने अधिक प्रभावक रुप में प्रभाव जमाये बैठा है, इसके कुछ दृष्टांत दे रहा हूँ। वास्तव में हमारा ध्यान उस ओर जाता ही नहीं कि दृष्टि राग हानिकार हैं। वरन् तो उसे उपादेय के रुप में समझा गया हैं। जब वह हेय है, यह भावना जागृत होगी तभी उससे छुटना संभव हो सकेगा। दृष्टि राग ने तो हमें ऐसे प्रगाढ़ रूप में बांध रखा हैं कि हमें उसका भान ही नहीं होता। देव, गुरू और धर्म जो हमारे आध्यात्मिक उत्कर्ष के प्रबल साधन है। उनमें भी दृष्टि-राग विष की तरह घुल मिल गया हैं और हम उसे ही अमृत मानकर नित्य - निरंतर पीते जा रहे हैं।

वितराग प्रभु के मंदिर व मूर्तियों को ही ले। हमने उसकी इतनी विडम्बना कर रखी हैं। कभी-कभी तो मुझे बहुत ही दुःख और आश्चर्य होता है तथा साथ ही हँसी भी आती हैं। सबसे पहले बात जो मुझे बार-बार कटौचती हैं, वह हैं दिगम्बर - श्वेताम्बर मन्दिरों और मूर्तियों में भेदभाव तथा इनके लिए होने वाले मनमुराव कलह झगडे और समाज की छिन्न - भिन्नता, समय, शक्ति और धन की असीम बर्बादी। मेरे समझ में यह नहीं आता कि हम वितराग परमात्मा तीर्थंकरों और उनके जीवन धर्म और उपदेश वितरागता पर के उपासक इतने मूढ़ कैसे हो गये कि मूल लक्ष्य को सर्वथा भूलकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विपरित मार्ग को अपनाने लगे हैं, उन्हीं को दृष्टि के मध्य रखकर झगड़े, कोर्ट-केस, हिंसा करते हैं। जिन्होंने इनसे अलग रहने के लिए हमारा मार्ग प्रशस्त किया था। कैसी भयंकर विडम्बना है कि हम राग-द्वेष से रहित प्रभु को ही राग-द्वेष की ज्वालाओं में डाल देते है।

जैन मंदिरो और मूर्तियों की स्थापना का एक मात्र लक्ष्य यहीं तो है कि हम नित्य निरंतर उनसे आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त कर ध्यान, सम्यकत्व और वितरागता की ओर बढ़े। मन्दिर में जाते व मूर्ति का दर्शन करते ही हम एकाग्रता - चित से तीर्थंकरों के गुणों का स्मरण करते हुए व अपने दोषों की ओर ध्यान देते हुए उन गुणों को प्रगटित करने की प्रेरणा प्राप्त करें तथा प्रयत्न और पुरुषार्थ, वीतरागता की प्राप्ति के लिए हि करें। वितराग को देखकर हमारे ह्रदय मन्दिर में एक प्रेरणा ओर प्रकाश जागृत हो कि हम निरंतर राग-द्वेष में झूल रहे है, यह हमारी सबसे बड़ी भूल है। इसको मिटाना हमारे लिए बहुत ही आवश्यक है। खेद है कि हम मंदिर और मूर्तियों को लेकर भी राग-द्वेष बढा ही रहे है। अत: वीतराग का मूल ध्येय ही भूलाया जा रहा है।

यह श्वेताम्बर मन्दिर है, यह दिगम्बर, यही भावना ठीक नहीं। किन्तु जब श्वेताम्बर यह सुन लेते हैं कि यह दिगम्बर मन्दिर है और दिगम्बर यह जान लेते है कि यह श्वेताम्बर मन्दिर है तो उन्हें अपना-अपना नहीं मानकर एक दूसरे के मन्दिरों में नहीं जाते, दर्शन वन्दन नहीं करते। अपितु उपेक्षा करते है। फिर ऐसी अलगाव की भावनाएँ क्यों पनपती हैं हमारे भीतर? दृष्टि-राग के कारण ही तो। मेरी राय में तीर्थंकरों की यह उपेक्षा, अवहेलना, आशातना और अपमान है। पर दृष्टि-राग में वीतराग भगवान के मंदिर या मूर्ति प्रमुख नहीं रहते श्वेताम्बर या दिगम्बर सम्प्रदाय मुख्य हो जाते हैं। इसीलिये वीतराग की मूर्ति को देखकर जो प्रशांत और निर्मल भाव उत्पन्न होने चाहिए वे उत्पन्न नहीं हो पाते, वरन कहीं-कही तो विपरित भाव भी दिखाई देते है। तीर्थों और मूर्तियों के झगड़े में समय, शक्ति और धन की बर्बादी हो रही हैं यह किसी से भी छिपा नहीं हैं। फिर भी यह विवाद समाप्त ही नहीं होते बल्कि दिन-प्रतिदिन् बढ़ते ही जाते हैं। क्योंकि दृष्टि-राग हमारे मानस पर गहरे रुप में छाया हुआ है। वास्तव में जहाँ जाकर हमारे-राग-द्वेष शांत होने चाहिये, वहाँ वे उल्टे बढ़ते हुये दिखाई देते है।

किसी एक मूर्ति के प्रति हमारा इतना अधिक आकर्षण या दृष्टि-राग हो जाता है कि "हम वैसी ही" दूसरी मूर्तियाँ की पूजा व मान्यता उस रुप में नहीं करते जिस रुप में अपनी मानी हुई चमत्कारिक या विशेष श्रद्धा प्राप्त मूर्ति की करते हैं। जल कि वीतरागता की प्रेरणा देने वाली सभी मूर्तिंयाँ समान हैं तो एक मूर्ति विशेष में ही अपनी श्रद्धा को केन्द्रीत करना और दूसरी मूर्तियों की उपेक्षा करना, उसी के समान पूजा नहीं करना यह दृष्टि राग ही तो है। एक मंदिर में एक मूर्ति का दर्शन करने सैकड़ों-हजारों लोग नित्य जाते है, उसी मंदिर की सारी मूर्तियाँ या पास के अन्य मन्दिरों में दर्शन-पूजन करने वाले विरले ही पहुँचते होंगे। इस वृत्ति में दृष्टि-राग ही है। इसी कारण एक मन्दिर में धूम-धाम, चहल-पहल हैं दुसरे मन्दिर में सूनापन। एक मन्दिर में लाखों की आमदानी है तो दूसरें में पूजा का भी प्रबन्ध नहीं हैं। और भी ताज्जुब की बात तो यह है कि एक मन्दिर में लाखों की आमदानी है तो दूसरे में पूजा का भी प्रवन्ध नहीं और भी ताज्जुब की बात तो यह है कि एक मन्दिर में लाखों पड़े है तो दूसरा मन्दिर दिन प्रतिदिन जीर्ण-शीर्ण होता जा रहा हैं, टूट फूट रहा है और उसमें कोई पूजा भी नहीं करता, यह सब देंखते हुए भी उसके जीर्णोद्धार, पूजा व्यवस्था में समृद्ध मन्दिर से कुछ भी नहीं दिया जाता। सोचिये कि दोनों ही मन्दिर उन्हीं तीर्थंकरों की मूर्तिया वाले हैं फिर उनमें इतना भेद-भाव व अन्तर क्यों? रुपया किसी व्यक्ति का नहीं, तीर्थंकरों के मन्दिर का हैं पर यहाँ अपना-पराया, मेरा-तेरा यह भेद-भाव इतना छा गया है कि हम कर्तव्य का भान भूल गये हैं। मानों उस मन्दिर का पैसा हमारा अपना हो, जाबकि हम केवल उसके संरक्षक एवं व्यवस्थापक मात्र हैं। जहाँ एक और सहस्त्रों की तादाद में मूर्तियाँ नष्ट हो जा रही है, उनकी कोई सार संभाल रखने वाला नहीं, दूसरी ओर हजारों मूर्तियाँ व मन्दिर बनते जा रहे है। ऐसा क्यों? उत्तर है कि हम बनायेंगे तो हमारा नाम रहेंगे। दूसरे के बनाए हुए मन्दिर और मूर्तियाँ है तो उसमें हमारा क्या? इसीलिए प्राचीन और सुन्दर मूर्तियाँ सर्वथा उपक्षित है, कहीं-कही तो भयंकर आशातना हो रही है, पर उस ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। हमें तो अपना शिलालेख खुदाना है, अपना नाम कमाना हैं। यह हमारी असम्यक दृष्टि-मिथ्या दृष्टि का ही परिचायक है। दृष्टि-राग के कारण ही हमारी दृष्टि सम्यक नहीं हो पाती। चिंतन और प्रवृत्ति सहीं नहीं होती।

इसी प्रकार अपने गुण, गच्छ और गरुओं को लें, जिस संप्रदाय का गच्छ का या सम्प्रदाय का भी जो उपासक होता है, उसी में उसका राग बंध जाता है। इसलिए दूसरे संप्रदाय गच्छ या समुदाय के अच्छे व्यक्तियों व अच्छी बातों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता या उपेक्षा करता है। श्वेताम्बर दिगम्बर गुरुओं के पास नहीं जाते, यदि जाते हैं अपने माने हुए गुरु के प्रति जैसा सद्भाव या भक्तिभाव होता है वैसा उसके प्रति नहीं होता। इसी तरह दिगम्बरों का श्वेताम्बर साधुओं के प्रति भाव होता हैं। क्यों? क्योंकि हमारी दृष्टि बाहरी परिवेश, वेश या लिंग तक ही सीमित हो गई हैं, दूसरे वेश या व्यक्ति चाहें वह कितना ऊँचा हो हम उसे उतना अधिक महत्व नहीं देते जितना हम हमारे सम्प्रदाय के कम गुणवान वेशधारी को देते हैं। क्योंकि हमारी दृष्टि बाह्य नाम, रुप के प्रति अधिक गहरी होती हैं यह सब दृष्टिराग के कारण ही होता है।

भिन्न संप्रदाय की बात छोड भी दें तो भी, एक ही गच्छ या संप्रदाय में भी हमारी दृष्टि इतनी राग भाव वाली हो गई है कि दिगम्बर संप्रदाय में बीस पंथी, तेरापंथी और कानजी आदि के झगडे चलते ही रहते हैं। एक दूसरे की मान्यताओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के खंडन में ही विद्वान जुटे हुए हैं॥ व्यवहार दृष्टि वाले अपने क्रिया-काण्ड और पुण्य क्रियाओं में मग्न हैं तो निश्चय दृष्टिवाले उनकी उपेक्षा और निंदा करने मे व्यस्त हैं। दिगंबर मुनियों में भी जो जिस मुनि के भक्त है, उस मुनि के इशारे या कथन से तो लाखों रुपये खर्च कर देंगे पर दूसरे अच्छे और ऊँचे मुनि की ओर ध्यान भी नहीं देंगे। समदृष्टि की जगह विषमदृष्टि या भेद दृष्टि, दृष्टि राग के कारण ही होती हैं। एक ही संप्रदाय या संघ में व्यक्तियों के भी जो जिसके भक्त हैं, वे उन्हीं के प्रति श्रद्धाशील है। उसी संघ या संप्रदाय के दूसरे मुनि या आर्मिका के प्रति वैसा सद्‌भाव नहीं मिलेगा। श्वेताम्बर संप्रदाय में भी इसी दृष्टि राग का प्राध्यान्य है। परस्पर गच्छों के झगडे, तिथियों के विवाद चलते रहते हैं। एक तपागच्छ में ही जो रामसूरि के भक्त हैं, वे दूसरे समुदायवालों को उस रुप में नहीं मानेंगे। अपने माने हुए आचार्य या साधु ही सर्वोपरि है, दूसरे उनके सामने कुछ भी नहीं है, या साधु नहीं है, ऐसी धारणा बना लेंगे।

स्थानकवासी संप्रदाय से भी जो श्रमणसंघ के अनुयायी है वे उस संघ के अमुक मुनि को ही विशेष मानेंगे। जैसे हस्तीमलजी को मानने वाले दूसरों को उस रुप में नहीं मानेंगे, नानालालजी को मानने वाले स्थानकवासी अन्य संप्रदाय के साधु-साहिवयों के प्रति उपेक्षाभाव रखेंगे, कहीं तो उनकी कटु आलोचना तक भी करते नजर आते हैं उर्थात दृष्टि राग का पदी उनकी आँखो और हृदय पर इतने गहरे छा जाते हैं कि दूसरे सब फिके और नीचे लगने लगते हैं। दूसरे संप्रदाय के व्यक्तियों को चाहे वे कितने ही अच्छे हो, उतना आदर नहीं दिया जाता। अपने संप्रदाय के भी अमुक व्यक्ति के प्रति दृष्टिराग बन गया है तो दूसरे के प्रति वैसा सद्‌भाव नहीं मिलता।

किसी धर्म-संप्रदाय के मुख्य आधार उसके देव गुरु और शास्त्र होते हैं। जब हम देव गुरु की चर्चा के बाद शास्त्र अर्थात मान्य ग्रन्थों की ओर दृष्टिपात करेंगे। जिससे धर्म के तीनों स्तम्भों आधारों पर दृष्टिराग कैसा छाया हुआ है, स्पष्ट हो जाएगा।

भगवना महावीर की जो कुछ भी वाणी बच पायी है वह जैन आगमों में उपलब्ध है। केवल कुछ साम्प्रदायिक मान्यताओं में अंतर पड जाता है इसलिए दिगम्बर सम्प्रदाय वालों ने यहाँ तक कह दिया कि प्राचीन जैन आगम सभी लुप्त हो चुके हैं। जबकि दिगम्बर ग्रंथो में ही उन आगमों का जो विवरण और वर्णन मिलता है, वह श्वेताम्बर मान्य आगमों में बहुत कुछ उसी रुप में प्राप्त है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी बतलाते हुए कहा गया है कि:

नाणं च दसणं देव चरित च तवो तहाँ।
वीरिय उवमोगो य एवं जीवस्य लक्खणं।

अर्थात् जीव वहीं है, जिसमें ज्ञान-दर्शन चारित्र तप वीर्य (शक्ति) और उपयोग नामक गुण हैं। जीव का प्रमुख लक्षण बताया गया है- चैतन्य। जिसमें चेतना नहीं, वह अजीव हैं जड़ एक हैं, उसमें अनुभव और संवेदन शक्ति नहीं होती। अनादिकाल से जीव और अजीव अर्थात चैतन्य और जड़ साथ रहे हुए हैं। जीव ने पुदगल या जड़ का अपना मान लिया हैं। इस ममत्व राग, मोह या अज्ञान के कारण ही संसार में चक्कर काट रहा हैं। आत्मा-विस्मृति ही प्रसाद और मिथ्यात्व हैं। पर को अपना मान लेना ही अनादिकाल की भूल हैं। और पुदगल से बने हुए शरीर और पदार्थों को अपना मान लेना राग-द्वेष के कारण ही होता हैं। इसलिए भी कर्म या संसार की जड़ रागभाव ही हैं। एक तत्वज्ञ महापुरुष ने बहुत ही संक्षेप और सरल रुप में कहा है कि

'कर्मन की जड़ राग हैं राग जरे जल जाया'' अर्थात राग के कारण ही कर्मबंद होते है और राग के समाप्त होते ही कर्म भी जलकर भस्म हो जाते है। प्रत्येक जैनी को जैन धर्म के इस सारभूत वाक्य पर खुब चिंतन करना चाहिए और जितना भी संभव हो ''राग-द्वेष'' को कम करने और नष्ट करने का लक्ष्य रखते हुए प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिए पर वर्तमान में हमें अपने का इससे सर्वथा विपरीत पा रहे है। एक तरह से यह भी कह सकते है कि कई बार अन्य सामान्य जीवों की अपेक्षा भी जैनों में राग-द्वेष अधिक पाया जाता है। व्यावहारिक कार्यों में ही नहीं किन्तु उन आगमों की प्राचीनता और प्रामणिकता स्वीकार की है, पर हमारे दिगम्बर विद्वान उनके पठन-पाठन में उतनी रुचि नहीं लेते हैं। इसी तरह श्वेतांबर संप्रदाय में भी स्थानकवासी संप्रदाय बत्तीस सुत्रों के जितना महत्व देता है उतना उन्ही बत्तीस सुत्रों से नंदीसूत्र आदि में उल्लेखित अन्य आगमों को महत्व नहीं देता। तथापि वे आगम बहुत उपयोगी है और कईयों में तो उनके लिए बाधाजनक हों, ऐसी कोई बात तो नहीं मिलती। यधपि बत्तीस और पैतालीस संख्या का कोई महत्व नहीं है पर अपने-अपने संप्रदाय की दृष्टि ंध गई है। उस संकुचित-साप्रदायिक दृष्टि के कारण दूसरे अच्छे ग्रंथों की भी उपेक्षा की जाती है।

होना तो यह चाहिए कि 'सत्य' है, वह मेरा है, पर हो गया है, ''जो मैं जानता हूँ, जो मैं कहता हूँ, जो मैं मानता हूँ'' वहीं मेरा है, वही 'सत्य' है। यह आग्रहशालता ही दृष्टिराग हैं। व्यक्ति पूजा को जैन धर्म में इसलिए महत्व नहीं दिया किंतु हम फिर उसी व्यक्ति-पूजा के घर में बंध गए हैं। मुल वस्तू को मुलकर बाहरी ढ़ाचे को सर्वस्व मानने लगे हैं। वास्तव में समदृष्टि और गुणदृष्टि को ही प्रधानता मिलनी चाहिए। आत्मकल्याण इसी में है। पर आज जैन समाज में दृष्टिराग का प्राधान्य हैं। उसको छोडे बिना हम सम्यक् दृष्टि नहीं हो सकते।सच्चे जैन नहीं हो सकते। महावीर के सच्चे अनुयायी भी नहीं हो सकते। इसलिए हमारे लिए यही हितकर हैं कि हम इस राग-द्वेष और उसमें भी दृष्टि राग को सर्वथा मिटाकर अपने आप को अनेकांत अनुयायी और सच्चा जैन प्रमाणित कर सके।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org